THE ECONOMIC TIMES

Date: 10-07-26

Smarter Citizens for Dumbed-Down Cities

ET Editorials

Bombay High Court has called a spade a spade. It is time we listened. This week, it observed that urban flooding is as much a civic failure as an administrative one. Every monsoon, familiar scenes play out across India: Delhi's roads disappear under water, Mumbai grinds to a halt, commuters are stranded, and neighbourhoods resemble lakes. From Bengaluru and Gurgaon to Hyderabad and Chennai, nearly every city battles chronic waterlogging, for which the answer is that old whataboutery: 'But this is nothing new.' Exactly. Civic authorities must answer for poor planning, inadequate drainage and crumbling infrastructure. But the court's remarks underscore an uncomfortable truth: state of our cities isn't just the product of government failure, but also a reflection of collective civic apathy.

Climate change has intensified rainfall. Yet, extreme rain becomes a disaster only when urban systems are weakened by neglect — institutional and individual. No municipal corporation can inspect every drain every day if citizens continue to litter and ignore blocked inlets outside their homes, markets and workplaces. Civic responsibility begins with simple acts: disposing of waste properly, reporting encroachments, clearing immediate blockages where possible, and treating public infra as shared property rather than 'someone else's responsibility'.

Governments must invest in resilient drainage, restore natural water bodies, and enforce planning and waste management laws. But citizens must be partners, not spectators. Smart cities can't be realised through sensors, apps and flyovers alone. Before India can build smart cities, it must first nurture smart, civic-minded people who recognise that well-maintained cities are a shared responsibility.

दैनिक भास्कर

Date: 10-07-26

क्यों हमारे छात्र स्कूलों में ठीक से सीख नहीं पा रहे?

संपादकीय

शिक्षा पर एक ताजा रिपोर्ट पीजीआई 2 से साबित हो रहा है कि सरकार के प्रयास शिक्षकों के प्रशिक्षण से लेकर व्यवस्था, इंफ्रास्ट्रक्चर और छात्र-शिक्षक अनुपात के स्तर पर तो सराहनीय हैं, लेकिन लर्निंग आउटकम (शिक्षा ग्रहण करने के परिणाम) पर कोई खास अंतर नहीं आया है। महिला शिक्षिकाओं का प्रतिशत बढ़ा है। छात्र-शिक्षक अनुपात (नई शिक्षा नीति के प्रस्तावित 30:1 से भी बेहतर) 24:1 हो गया है जो राज्य शिक्षा के ढांचे में कमी झेल रहे थे, उन्हें बेहतर फंडिंग देकर सरकारों ने अपना काम तो किया लेकिन अगर छात्र इसके बावजूद शिक्षा ग्रहण नहीं कर पा रहे हैं तो क्या शिक्षक उन्हें सही ढंग से पढ़ा नहीं रहे हैं? या फिर छात्रों की समझ और पाठ्यक्रम में ही भेद है ? उत्तर के अधिकांश राज्य दक्षिण से परम्परागत रूप से अनेक पैमानों पर पीछे हैं। अभी तक कोई राज्य शीर्ष ग्रेड 'दक्ष' नहीं पा सका है। चंडीगढ़, जो 'उत्तम' ग्रेड लेकर सबसे आगे रहा, उसे भी अभी तीन ग्रेड पार करना पड़ेगा। बहरहाल सबसे नीचे के तीन 'आकांक्षी' ग्रेड 1-3 में उत्तर भारत और पूर्वोत्तर के ज्यादातर 13 राज्य पाए गए। शिक्षा विभाग इस बात से खुश हो सकता है कि राज्यों के बीच अंतर घटा है, लेकिन उसका कारण शीर्ष के राज्यों की यथास्थिति है, न कि नीचे के राज्यों का ऊपर आना । बहरहाल, लर्निंग परिणाम पुराने सर्वे पर आधारित हैं, लिहाजा नए सर्वे की प्रतीक्षा रहेगी।

Date: 10-07-26

आज के भारत पर एकतरफा समझ कारगर नहीं हो सकती

शशि थरूर, (पूर्व केंद्रीय मंत्री और सांसद)

पिछले महीने नरेंद्र मोदी देश के सबसे लंबे समय तक लगातार पद पर रहने वाले निर्वाचित प्रधानमंत्री बन गए थे। उन्होंने स्वतंत्रता-संग्राम के नायक जवाहरलाल नेहरू को पीछे छोड़ा, जिन्होंने पहले आम चुनाव के बाद 4,398 दिन पद पर कार्य किया था। हालांकि नेहरू ने उससे पहले भी पांच साल तक भारत का नेतृत्व किया था और

इंदिरा गांधी भी कुल मिलाकर अधिक समय तक प्रधानमंत्री पद पर रहीं, लेकिन लगातार नहीं। मोदी नि:संदेह स्वतंत्र-भारत के तीन सबसे प्रभावशाली नेताओं में से एक के रूप में उनकी श्रेणी में आते हैं।

मोदी पहले ही 1947 के बाद भारत के सबसे गहरे 'री-अलाइनमेंट' का नेतृत्व कर चुके हैं, जिसके चलते हमने आर्थिक आधुनिकीकरण और विकास में चकाचौंध कर देने वाली प्रगति देखी है। हालांकि संस्थाओं की स्वतंत्रता और अल्पसंख्यकों के संरक्षण के प्रश्न पर हमने चुनौतियों का भी सामना किया है।

मोदी की सबसे बड़ी उपलब्धि अत्याधुनिक तकनीकी और बुनियादी ढांचे का निर्माण रही है, जिसने 1.4 अरब से अधिक लोगों के जीवन को मौलिक रूप से बदल दिया है। 2014 में मोदी के प्रधानमंत्री बनने से पहले करोड़ों भारतीय औपचारिक बैंकिंग क्षेत्र से बाहर थे। अनौपचारिक विकल्पों पर उनकी निर्भरता ने भ्रष्टाचार को बढ़ावा दिया था। अपने पूर्ववर्ती मनमोहन सिंह द्वारा शुरू की गई पहल पर आगे बढ़ते हुए, मोदी एक नई प्रणाली को अमल में लाए, जिसने पारंपरिक बैंकिंग संरचनाओं को दरकिनार कर दिया। इसके बजाय जीरो-बैलेंस बैंक खातों (जन धन योजना), बायोमेट्रिक पहचान पत्रों (आधार) और मोबाइल नंबरों को जोड़ दिया गया।

इस 'जेएएम' त्रिमूर्ति ने ही यूपीआई को जन्म दिया है, जो एक सार्वजनिक, रीयल-टाइम भुगतान प्रोटोकॉल है और सड़क किनारे बैठे विक्रेताओं से लेकर तकनीकी दिग्गजों तक सभी को तुरंत लेनदेन में सक्षम बनाता है। इस दृष्टिकोण ने डायरेक्ट बेनेफिट ट्रांसफर (डीबीटी) प्रणाली का भी विस्तार संभव बनाया, जिसके तहत सब्सिडी और लाभ सीधे लाभार्थियों के बैंक खातों में जमा किए जाते हैं।

2013 में शुरुआत के बाद से ही डीबीटी ने अन्य कल्याणकारी योजनाओं के साथ मिलकर तकरीबन 25 करोड़ लोगों को गरीबी से बाहर निकालने में मदद की है। मध्यस्थों को बीच में से हटाकर इस प्रणाली ने भ्रष्टाचार पर भी अंकुश लगाया है। हालांकि अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्र अभी भ्रष्टाचार से मुक्त नहीं हैं।

बुनियादी ढांचे के विकास के लिए भी युद्ध-स्तर की तत्परता दिखाई गई है और राजमार्गों, हवाई अड्डों और हाई-स्पीड रेल नेटवर्क में रिकॉर्ड-तोड़ निवेश हुआ है। बंदरगाहों का आधुनिकीकरण और विस्तार किया जा रहा है। गांवों में बिजली पहुंचाई जा चुकी है। 10 करोड़ से अधिक घरों में- जो पहले सामुदायिक कुंओं पर निर्भर थे- पाइप के जरिए स्वच्छ पानी पहुंचाया गया है।

लेकिन विदेश नीति में मोदी ने नेहरू का ही अनुसरण किया है। वैश्विक भू-राजनीतिक प्रतिद्वंद्विता में पक्षपातपूर्ण रुख अपनाने के बजाय उन्होंने रणनीतिक स्वायत्तता के प्रति भारत की लंबे समय से चली आ रही प्रतिबद्धता को बनाए रखा है और 'मल्टी-अलाइनमेंट' के सिद्धांत को आगे बढ़ाया है। अलबत्ता गलतियां भी हुई हैं। उदाहरण के लिए, भारत को ईरान युद्ध में खुद को एक तटस्थ पक्ष और संभावित मध्यस्थ के रूप में स्थापित करना चाहिए था, न कि यह धारणा बनने देनी चाहिए थी कि वह अमेरिका और इजराइल के पक्ष में है।

दूसरी तरफ यह भी है कि हिंदुत्व का नजरिया भारत की सांस्कृतिक पहचान को 80% आबादी की हिंदू विरासत में ही निहित करने का प्रयास करता है। भारत के मुस्लिम और ईसाई अल्पसंख्यकों के लिए इसने सामाजिक और राजनीतिक रूप से हाशिए पर होने की बढ़ती भावना में योगदान दिया है। आलोचक यह भी चेतावनी देते हैं कि भारत की बहुलतावादी सुरक्षात्मक व्यवस्थाओं को कमजोर किया जा रहा है।

स्वतंत्र संस्थाओं को कमजोर करने के लिए भी सरकार की आलोचना की जाती रही है। बेशक भारत दुनिया की सबसे तेजी से बढ़ती प्रमुख अर्थव्यवस्था है, लेकिन हर साल वर्कफोर्स में प्रवेश करने वाले लाखों युवाओं के लिए पर्याप्त उच्च-गुणवत्ता वाली औपचारिक क्षेत्र की नौकरियां नहीं सृजित हो सकी हैं।

तो कुल मिलाकर, मोदी के कार्यकाल में भारत न तो एक विशुद्ध आर्थिक चमत्कार रहा है और न ही लोकतांत्रिक पतन का कोई सीधा-सरल मामला। हम एक महत्वाकांक्षी, शक्तिशाली देश हैं, जो अपना रास्ता खुद बना रहे हैं। दुनिया को इन जटिल शर्तों पर ही हमें स्वीकारना होगा।

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 10-07-26

अंकारा बैठक के अस्पष्ट नतीजे

संपादकीय

उत्तर अटलांटिक संधि संगठन (नाटो) के 32 सदस्य देशों की तुर्किये की राजधानी अंकारा में आयोजित शिखर बैठक में सामूहिक रक्षा के प्रति अपनी अटूट प्रतिबद्धता को दोहराया गया। यह बात अपने आप में बहुत कुछ बताती है। यह प्रतिबद्धता उत्तर अटलांटिक संधि के अनुच्छेद 5 में निहित है जो कहती है कि 'किसी एक पर हमला, सभी पर हमला' माना जाएगा। नाटो का यह बुनियादी सिद्धांत हालिया वर्षों में दबाव में रहा है क्योंकि अमेरिकी राष्ट्रपति डॉनल्ड ट्रंप लगातार यूरोपीय देशों के रक्षा व्यय की पर्याप्तता और इस सैन्य गठबंधन की उपयोगिता पर प्रश्नचिह्न लगाते रहे हैं। अंकारा स्थित 1,150 कमरों वाले तुर्किये के राष्ट्रपति के आधिकारिक आवास और कार्यालय बेस्तेपे परिसर में आयोजित हालिया दो-दिवसीय शिखर सम्मेलन यदि किसी बात को रेखांकित करता है तो वह है रूस से उत्पन्न खतरों का मुकाबला करने के लिए यूरोपीय और कनाडाई सहयोगियों का अपने दायित्वों को और मजबूत करने का संकल्प। जाहिर सी बात है कि रक्षा बजट और यूक्रेन को समर्थन इस शिखर सम्मेलन के आधिकारिक एजेंडे में सबसे ऊपर रहे।

गत वर्ष गठबंधन ने मूल रक्षा आवश्यकताओं में निवेश को 139 अरब डॉलर से अधिक बढ़ाया था। अंकारा में, गठबंधन ने यूरोपीय और अमेरिकी निर्माताओं से विभिन्न साजो-सामान की नई खरीद में अतिरिक्त 50 अरब

डॉलर की घोषणा की। जैसे स्वीडन की साब से प्रारंभिक चेतावनी प्रणाली, नॉरथ्रॉप ग्रुम्मैन से टोही विमान, एयरबस से सैन्य परिवहन वाहन बेड़ा और लॉकहीड मार्टिन के साथ मिसाइल सौदे। गठबंधन ने यूक्रेन (जो नाटो का सदस्य नहीं है) को रूस के खिलाफ युद्ध में सैन्य साजो-सामान, सहायता और प्रशिक्षण के लिए 70 अरब डॉलर देने का भी वादा किया। इसके बावजूद केवल पांच नाटो सदस्य ही उस लक्ष्य को पूरा करने की संभावना रखते हैं जो पिछले वर्ष हेग शिखर सम्मेलन में निर्धारित किया गया था। यानी सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) का 3.5 फीसदी मूल रक्षा पर खर्च करना जो पहले के 2 फीसदी लक्ष्य से अधिक है। ये खर्च मुख्यतः उन देशों द्वारा किए जा रहे हैं जो रूसी आक्रामकता के प्रति संवेदनशील हैं। यानी लिथुआनिया, एस्टोनिया, लातविया, पोलैंड और ग्रीस।

जर्मनी, ब्रिटेन और फ्रांस जैसे तीन बड़े देश ऐतिहासिक 2 फीसदी लक्ष्य से थोड़ा अधिक खर्च करना जारी रखेंगे। अमेरिका का अनुमानित खर्च 3.17 फीसदी है, और वह जर्मनी के साथ मिलकर नाटो के प्रत्यक्ष वित्तपोषण का सबसे बड़ा हिस्सा साझा करता है जो दोनों के लिए तकरीबन 14-14 फीसदी है। पिछले वर्ष दिए गए इस संतुलित संदेश का ट्रंप पर कोई प्रभाव नहीं दिखा। उनके अस्थिर प्रदर्शन ने केवल अमेरिकी इरादों को लेकर अनिश्चितता को और बढ़ा दिया। एकमात्र लाभार्थी यूक्रेन रहा जहां ट्रंप और वोलोदीमिर जेलेंस्की ने पहले की कटुता को किनारे रखकर एक समझौते पर हस्ताक्षर किए जिसके तहत महंगे पैट्रियट मिसाइल सिस्टम का उत्पादन यूक्रेन की राजधानी कीव में करने का अधिकार बढ़ा दिया गया। अमेरिकी राष्ट्रपति ने शिखर सम्मेलन को अत्यंत सफल बताते हुए जबरदस्त एकता का दावा किया परंतु उन्होंने डेनमार्क के क्षेत्र ग्रीनलैंड पर अमेरिकी दावे को दोहराया और रक्षा खर्च तथा पश्चिम एशिया के युद्ध को लेकर स्पेन के साथ व्यापार को तुरंत रोकने का आदेश दिया।

जाहिर है यह शिखर सम्मेलन में विवाद का केंद्र बन गया क्योंकि स्पेन ने ईरान के खिलाफ अभियानों के लिए अमेरिकी सैन्य विमानों के लिए अपना हवाई क्षेत्र बंद कर दिया और इटली ने पश्चिम एशिया में तैनाती के लिए अमेरिकी सेना को सिसिली एयरबेस का उपयोग करने की अनुमति देने से इनकार कर दिया। उल्लेखनीय है कि ट्रंप ने शिखर सम्मेलन को युद्धविराम समाप्त करने और 8 जुलाई को ईरान पर दर्जनों हमलों की घोषणा करने के लिए चुना जो स्पष्ट रूप से होर्मुज स्ट्रेट में जहाजों पर ईरानी हमलों के प्रतिशोध में किया गया। इन हमलों ने वैश्विक अर्थव्यवस्था के लिए अनिश्चितता बढ़ा दी है जिससे कच्चे तेल की कीमतें बढ़ गईं और शेयर मूल्यों में तेज गिरावट आई। इस प्रकार अंकारा शिखर सम्मेलन मिलेजुले संदेशों के साथ समाप्त हुआ। इसका सबसे अच्छा उदाहरण यह है कि अगला शिखर सम्मेलन जो मूल रूप से अल्बानिया में होने वाला था वह अब संदेह में है क्योंकि अमेरिका ने उसके कम रक्षा खर्च पर आपत्ति जताई है। अंकारा शिखर सम्मेलन घोषणा में न तो अगले सम्मेलन के लिए देश का उल्लेख किया गया और न ही तारीख का।

Date: 10-07-26

भारत-यूरोप साझेदारी को सींचने की जरुरत

श्याम सरन, (लेखक पूर्व विदेश सचिव हैं)

ब्रसेल्स की हाल की यात्रा ने यह स्पष्ट कर दिया है कि भारत-यूरोपीय संघ मुक्त व्यापार समझौते के वादे को पूरा करने और आर्टिफिशल इंटेलिजेंस (एआई) के युग में अधिक करीबी आर्थिक और तकनीकी साझेदारी कायम करने के लिए अभी बहुत कुछ किया जाना बाकी है।

जो बात अभी भी कायम और प्रभावी है वह है इस साझेदारी की भूराजनीतिक प्रेरणा। भारत और यूरोप दोनों ही अमेरिका-चीन द्विध्रुवीय व्यवस्था की संभावना से खतरा महसूस करते हैं। यूरोप को अलग-थलग हो जाने का डर है। भारत में यह आशंका है कि वह रणनीतिक जोड़ जिसने पिछले 25 वर्षों से भारत और अमेरिका को साझेदारी में जोड़े रखा था अब कमजोर पड़ रहा है। लेकिन भारत जहां अपने हित में संप्रभु निर्णय लेता है वहीं यूरोप अब भी एक सुसंगत राजनीतिक इकाई नहीं है और यह भी स्पष्ट है कि प्रत्येक प्रमुख सदस्य देश के दृष्टिकोण में महत्त्वपूर्ण अंतर हैं। हालांकि, रूस से सुरक्षा के लगातार बने हुए खतरे और यूरोपीय सुरक्षा-व्यवस्था को मजबूत करने की जरूरत को लेकर आम सहमति है, लेकिन यह स्पष्ट नहीं है कि जब तक उत्तर अटलांटिक संधि संगठन (नाटो) ही रूस के खिलाफ एकमात्र विश्वसनीय निवारक बना हुआ है तब तक यूरोपीय संघ की कोई भूमिका होगी या नहीं।

रूस के साथ कूटनीतिक स्तर पर नए सिरे से जुड़ाव पर भी कोई सहमति नहीं है कि यूरोप की ओर से संवाद का प्रतिनिधित्व कौन करेगा और वार्ता का एजेंडा क्या होगा। ईरान युद्ध में शांति लाने के प्रयासों में यूरोप की भूमिका नगण्य रही है। चीन के मामले में भी इसी तरह तालमेल की कमी दिखाई देती है।

यह आशंका बढ़ती जा रही है कि यूरोप प्रतिस्पर्धा में अमेरिका और चीन दोनों से पिछड़ रहा है लेकिन वह कोई प्रभावी रणनीति बनाने में सक्षम नहीं है। मारियो ड्रैगी की यूरोप की प्रतिस्पर्धात्मकता पर रिपोर्ट ने इस महाद्वीप की कमजोरियों और अधिक एकीकरण तथा निवेश की आवश्यकता का एकदम स्पष्ट आकलन किया। लेकिन इस रिपोर्ट ने जिस पैमाने पर परिवर्तन की कल्पना की थी वह अब तक नहीं हुआ जबकि इसे यूरोपीय पुनरुत्थान के खाके के रूप में उद्धृत किया जाता है। यहां तक कि ड्रैगी रिपोर्ट ने भी चीन के प्रति एक विरोधाभासी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। उदाहरण के लिए क्या चीन के साथ मिलकर इलेक्ट्रिक वाहनों और उन्नत बैटरी तकनीकों में पकड़ बनाना बेहतर नहीं होता? क्या यूरोप के लिए यह लाभकारी नहीं होता कि वह कम लागत वाली नवीकरणीय ऊर्जा तकनीकों और उपकरणों से लाभ उठाए? कुछ प्रमुख यूरोपीय देश जैसे जर्मनी चीन से अधिक जुड़े हुए हैं जबकि फ्रांस उतना नहीं है। इसका अर्थ है कि यूरोप अब भी एक चीन रणनीति बनाने में असमर्थ है।

ड्रैगी रिपोर्ट में भारत का एक बार भी उल्लेख नहीं है लेकिन आशा है कि मुक्त व्यापार समझौते के निष्कर्ष के बाद यह बदल सकता है। निश्चित रूप से, ब्रसेल्स से निकला बयान यही संकेत देता है। ऐसे में भारत को क्या करना चाहिए? पहली बात, उसे यह सुनिश्चित करना चाहिए कि वार्ता प्रक्रिया की गति धीमी न हो। मुक्त व्यापार समझौते को यथाशीघ्र अनुमोदित किया जाना चाहिए।

दूसरा, लंबित निवेश संरक्षण समझौते और भौगोलिक संकेतक समझौते को शीघ्र ही अंतिम रूप देकर पूरा किया जाना चाहिए। तीसरी बात, भारत-यूरोपीय संघ व्यापार एवं प्रौद्योगिकी परिषद (टीटीसी) को पुनः सक्रिय कर साझेदारी का अभिन्न हिस्सा बनाया जाना चाहिए। ब्रसेल्स में हुई बातचीत से यह संदेह होता है कि यूरोपीय संघ का कार्बन सीमा समायोजन तंत्र (सीबीएएम) एक कठिन मुद्दा बन सकता है। आयातित वस्तुओं में कार्बन सामग्री की गणना पूरी तरह से तय नहीं हुई है। तथाकथित मापन, रिपोर्टिंग और सत्यापन (एमआरवी) प्रक्रिया यूरोपीय संघ की ओर से अस्पष्ट है और यह स्पष्ट नहीं है कि भारतीय पक्ष द्वारा स्थापित एमआरवी को ब्रसेल्स स्वीकार करेगा या नहीं। क्या ऐसे सामान्य मानक होंगे जिन पर दोनों पक्षों के एमआरवी को समायोजित कर वास्तव में परस्पर संचालन लायक बनाया जा सके?

इसके अलावा सत्यापन कौन करेगा और नामित एजेंसियों द्वारा किए गए ऐसे सत्यापन की लागत कौन वहन करेगा? कठिन अनुपालन प्रक्रियाएं व्यापार को हतोत्साहित करेंगी, विशेषकर भारत के सूक्ष्म, लघु और मध्यम उद्यमों (एसएमई) से होने वाले निर्यात को। यह भी स्पष्ट नहीं है कि यूरोपीय संघ अमेरिका के साथ व्यापार समझौता करते समय अपने सीबीएएम को लेकर अमेरिकी विरोध से कैसे निपटेगा। स्पष्ट है कि किसी को भी ऐसे कठिन और संभवतः महंगे प्रावधान को स्वीकार नहीं करना चाहिए, जिससे अमेरिका को छूट मिली हो। इस पर और गहराई से विचार करने की आवश्यकता है।

यूरोपीय संघ के लिए इसे गैर-शुल्कीय अवरोध की तरह अपनाने का प्रलोभन मजबूत होगा, खासकर उस समय जब संरक्षणवादी प्रवृत्तियां और तीव्र हो रही हैं। भारत को यूरोप से पूंजी प्रवाह को बढ़ावा देना चाहिए। उसे फ्रांस और जर्मनी जैसे प्रमुख देशों के साथ द्विपक्षीय संबंधों में अधिक सफलता मिली है। पिछले भारत-यूरोपीय संघ शिखर सम्मेलन के दौरान दोनों पक्षों के बीच संपन्न रक्षा और सुरक्षा साझेदारी पर काफी जोर दिया गया। आने वाले वर्षों में यूरोप अपनी रक्षा क्षमताओं को बढ़ाने में बहुत बड़ी राशि का निवेश करेगा। भारत के साथ दीर्घकालिक साझेदारी यूरोप की पूंजी और तकनीक को भारत के कुशल जनशक्ति और पैमाने के साथ जोड़ सकती है। यूरोप पूंजी प्रदान कर सकता है और प्रौद्योगिकी हस्तांतरण के लिए नियामक ढांचा बना सकता है।

वहां यह चिंता बनी हुई है कि संवेदनशील तकनीक रूस तक पहुंच सकती है जिसके साथ भारत का रक्षा उपकरणों का महत्त्वपूर्ण संबंध है। यद्यपि इससे भारत का अमेरिका और व्यक्तिगत यूरोपीय साझेदारों के साथ सहयोग प्रभावित नहीं हुआ है और यूरोपीय संघ के नीति-निर्माताओं को इस मामले में आश्वस्त करना चाहिए। यूरोपीय और सामान्य नागरिक समाज स्तर पर भारत और उसकी आर्थिक व तकनीकी क्षमताओं के बारे में व्यापक

अज्ञानता बनी हुई है। भारतीय कूटनीति को इस कमी को यथाशीघ्र दूर करना चाहिए।

जनसत्ता

Date: 10-07-26

साझेदारी का दायरा

संपादकीय

वैश्विक स्तर पर तेजी से बदलती भू-राजनीतिक परिस्थितियों के बीच अलग-अलग देशों में आपसी सहयोग के लिए जिस स्तर पर नए समीकरण बन रहे हैं, उससे साफ है कि अब पुराने ध्रुवों के विकल्प तैयार हो रहे हैं और विकसित तथा सक्षम देशों को भी अपने बेहतर भविष्य का रास्ता तैयार करना पड़ रहा है। इस संदर्भ में देखें, तो भारत और ऑस्ट्रेलिया के बीच गुरुवार को जिस स्तर पर सहयोग और साझेदारी की घोषणा हुई, वह मौजूदा दौर की जरूरतों के मद्देनजर एक महत्त्वपूर्ण पहल है। गौरतलब है कि पिछले कुछ समय के दौरान मुक्त व्यापार के क्षेत्र में भारत ने कई देशों के साथ समझौते किए हैं, जिसके तहत देश की अर्थव्यवस्था के विस्तार के लिए नई संभावनाएं तैयार करने की कोशिश की गई है। इसी क्रम में अब भारत और ऑस्ट्रेलिया के बीच रक्षा और सुरक्षा सहयोग को नई मजबूती देने जैसे कई अहम मुद्दों पर सहमति बनी है। साथ ही परमाणु ऊर्जा, समुद्री सुरक्षा, साइबर तकनीक, अंतरिक्ष और व्यापार के क्षेत्र में सहयोग का दायरा बढ़ाने का खाका भी पेश किया गया। इसके अलावा आतंकवाद के खिलाफ साझा लड़ाई, हिंद-प्रशांत क्षेत्र में शांति और स्थिरता लाने तथा अन्य मोर्चों पर जारी तनावों के हल के लिए संवाद और कूटनीतिक प्रयास जारी रखने पर भी सहमति बनी।

जाहिर है, भारत और ऑस्ट्रेलिया के बीच साझेदारी के सफर के विस्तार की जो पहल हुई है, उसका आधार अगले कुछ दशकों में वैश्विक स्तर पर आर्थिक और कूटनीतिक स्तर पर बदलते ध्रुव और उसी मुताबिक तैयार होते समीकरण हैं, जिनमें सहयोग के नए आयाम तैयार हो रहे हैं। हालांकि ऑस्ट्रेलिया के साथ भारत का पहले से ही साझेदारी का लंबा सफर रहा है, लेकिन ताजा समझौतों में परमाणु ऊर्जा और दुर्लभ खनिजों के मामले में सहयोग के जिस मोर्चे पर ठोस समझदारी बनी है, वह आने वाले वक्त में बेहद अहम साबित हो सकती है। ऑस्ट्रेलिया के पास दुनिया भर के यूरेनियम संसाधनों का एक बड़ा हिस्सा है, मगर कुछ कानूनी और तकनीकी अड़चनों की वजह से भारत को अब तक इसका लाभ नहीं मिल सका। अब ताजा समझौते के बाद भारत को अपनी परमाणु ऊर्जा संबंधी जरूरतों को पूरा करने के लिए ईंधन का एक अहम स्रोत मिल सकेगा।

हालांकि मौजूदा दौर में विश्व जिस स्तर के तनावों से गुजर रहा है, उसमें यूरेनियम के उपयोग को लेकर आशंकाएं स्वाभाविक हैं। मगर इस मसले पर दोनों देशों ने यह साफ किया है कि सिर्फ शांतिपूर्ण उद्देश्यों के लिए दीर्घकालिक यूरेनियम निर्यात की अनुमति होगी और अंतरराष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा एजेंसी के तय सुरक्षा प्रावधानों

का पूरा ध्यान रखा जाएगा। साथ ही दोनों देश खनिज गलियारे को विकसित करने के क्षेत्र में भी साझेदारी करेंगे, जिससे चीन पर निर्भरता कम होगी। समुद्री सुरक्षा सहयोग के मसले पर हुए समझौते के बाद यह भी उम्मीद की जा रही है कि हिंद-प्रशांत क्षेत्र में शांति, स्थिरता, नौवहन की स्वतंत्रता और नियम-आधारित व्यवस्था को मजबूत करने के लिए साझा प्रयासों को नई रफ्तार मिलेगी और इस क्षेत्र में चीन के बढ़ते दबदबे के बरक्स संतुलन का एक मोर्चा खड़ा किया जा सकेगा। जाहिर है, दोनों देशों के बीच संबंधों में विविधता लाने पर जोर देने के प्रयासों के तहत सहमति बनी है। मगर यह भी ध्यान रखने की जरूरत होगी कि इसका मूल आधार एक-दूसरे की जरूरतों के लिए समानता पर आधारित आर्थिक सहयोग हो और यह भारतीय हितों को सुनिश्चित करने वाला हो।

Live हिन्दुस्तान.com

Date: 10-07-26

आक्रामक ट्रंप से अस्थिर दुनिया

तलमीज अहमद, (पूर्व राजनयिक)

पश्चिम एशिया पर फिर से अस्थिरता के बादल मंडराने लगे हैं। अमेरिकी राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रंप द्वारा युद्ध-विराम की समाप्ति के एलान और ईरान पर ताजा हमले से इस क्षेत्र में एक बार फिर नागरिक सुरक्षा सायरन बजने लगे हैं। हालात इस कदर प्रतिकूल हो गए हैं कि ट्रंप अब ईरान के शीर्ष नेतृत्व को 'बीमार' बता रहे हैं और उनके साथ किसी भी किस्म की शांति-वार्ता को 'वक्त की बर्बादी' कहने लगे हैं।

ऐसे परिदृश्य के कयास पहले से लगाए जा रहे थे। दरअसल, जब तक होर्मुज जलमार्ग का विवाद नहीं सुलझाया जाएगा, तब तक ये दोनों देश आमने-सामने बने रहेंगे। हालांकि, दिक्कत यह भी है कि इस मसले का कोई सरल समाधान निकल नहीं सकता। ट्रंप चाहते हैं कि वह अपने अवाम को जंग जीतने की सूचना दें, लेकिन वह तब तक ऐसा नहीं कर सकते, जब तक कि होर्मुज पर तेहरान का नियंत्रण है। ट्रंप इस मार्ग से मुक्त आवाजाही चाहते हैं, जबकि तेहरान मुआवजा वसूलने का हिमायती है। चूंकि युद्ध की शुरुआत अमेरिका की तरफ से हुई थी, इसलिए ईरान चाहता है कि उसके नुकसान की भरपायी होर्मुज से की जाए।

ट्रंप को यही बात नागवार गुजर रही है और वह इससे खफा हैं। अमेरिका की तरफ से जान-बूझकर जहाज भेजे गए थे, ताकि दुनिया को यह बताया जा सके कि होर्मुज से बेरोक-टोक गुजरा जा सकता है, किंतु तेहरान ने उन जहाजों पर हमले करके अपनी मंशा स्पष्ट कर दी, नतीजतन ट्रंप दोबारा आक्रामक हो गए। ट्रंप को अब यह समझना ही चाहिए कि ईरान पर हमला करके बेशक उन्होंने उसके सुप्रीम नेता अयातुल्ला अली खामेनेई समेत

कई लोगों की जान ले ली, लेकिन इस युद्ध को वह जीत नहीं सके हैं। वह ईरानी सभ्यता को खत्म कर देने तक की धमकी दे चुके हैं, लेकिन इसका हश्र पूरी दुनिया ने देखा है।

ऐसे में, अच्छा यही होगा कि ईरान के साथ बातचीत की मेज पर बैठने की पहल की जाए। ट्रंप को वार्ता के जरिये ही इस समस्या का समाधान निकालना होगा। वह खुद को बढ़िया राष्ट्रपति और सफल जनरल के रूप में पेश करना चाहते हैं, पर लेन-देन वाली बातचीत ही इस युद्ध की आग को शांत कर सकती है। युद्ध छेड़ा भी अमेरिका ने ही था, वह भी तब, जब बातचीत का दौर जारी था। ऐसे में, अमेरिकी राष्ट्रपति तेहरान से यह उम्मीद कैसे कर सकते हैं कि वह होर्मुज पर अपना दावा बेवजह छोड़ देगा? वह भी उस स्थिति में, जब उसे इस मार्ग की अहमियत बखूबी पता है!

हालांकि, सच यह भी है कि इस बार की जंग उस खतरनाक स्थिति में नहीं जाएगी, जैसी हमने युद्ध-विराम से पहले देखी थी। इसकी वजह भी है। असल में, ट्रंप की दो ख्वाइशें हैं- एक, खुद को बढ़िया राष्ट्रपति और योद्धा साबित करना और दूसरी, बढ़िया कूटनीतिज्ञ व 'स्टेट्समैन' के रूप में अमेरिकी इतिहास में अपनी जगह बनाना। इस द्वंद्व में जीने के कारण ही वह कभी युद्ध भड़काते हैं, तो कभी उसी जंग को शांत करने का दावा करके 'शांतिदूत' बनने का प्रयास करते हैं। अभी उनकी नजर अमेरिका के मध्यावधि चुनाव पर भी है। उनको डर है कि इस युद्ध को 'न जीत पाने' से सीनेट और हाउस, दोनों में उनकी हार हो सकती है। इसके बाद तो वह एक 'लेम डक' (शक्तिहीन नेता) बन जाएंगे। फिर, होर्मुज में अवरोध अमेरिका में महंगाई बढ़ाता है। इसलिए भी वह एक तय सीमा तक ही हमलावर हो सकेंगे और ऐसा कोई कदम नहीं उठाएंगे, जिससे होर्मुज फिर से पूरी तरह से बंद हो जाए।

उधर, ईरान भी इस युद्ध में शायद ही बहुत आगे बढ़ना चाहेगा। वह जवाब देगा, लेकिन वह सांकेतिक होगा, जैसा हम अभी देख भी रहे हैं। उसने खाड़ी देशों पर हमला किया है, खासकर वहां, जहां अमेरिकी बेस हैं, लेकिन यह सीमित ही है। वह जानता है कि अमेरिका उसकी ताकत से बखूबी वाकिफ है। अमेरिकी खुफिया एजेंसियां इसकी तस्दीक कर चुकी हैं कि तेहरान के पास अब भी मिसाइल व ड्रोन पर्याप्त मात्रा में हैं। फिर भी, पूर्णकालिक युद्ध उसे नुकसान ही पहुंचाएगा। ऐसे में, राष्ट्रपति ट्रंप को उस शांति समझौते (एमओयू) पर ही आगे बढ़ना चाहिए, जो उन्होंने जून में ईरान के साथ किए थे। उसमें कहा गया था कि होर्मुज और समुद्री आवागमन के लिए फीस को लेकर बात की जाएगी। इसलिए, मतभेद को बातचीत से सुलझाया जाए,वरना होर्मुज के बंद होने से पूरी दुनिया प्रभावित होगी।

यहां पर इजरायली प्रधानमंत्री बेंजामिन नेतन्याहू की भूमिका भी महत्वपूर्ण है। वह अगले कुछ ही दिनों में वाशिंगटन जाने वाले हैं। वह अपने स्वार्थ के लिए ट्रंप को नियंत्रित करना जानते हैं। उन्हीं की शह पर ईरान युद्ध की शुरुआत हुई थी। हालांकि, मैं उनको कुसूरवार नहीं मानता, क्योंकि वह तो अपने हित की बात करेंगे ही, यह समझ तो अमेरिकी राष्ट्रपति में होनी चाहिए थी कि वह युद्ध के नफा-नुकसान की परख करते।

हालांकि, इस बार ट्रंप शायद ही नेतन्याहू से प्रभावित होंगे। वह जान रहे हैं कि जिस मंशा के साथ जंग छेड़ी जाती है, अगर वह पूरी न हो, तो उसे हार ही कहा जाता है। बहरहाल, हार-जीत में उलझे बिना अब उन्हें यह समझना होगा कि हरसंभव नुकसान के बावजूद ईरान कतई घुटनों के बल नहीं आएगा। यही कारण है कि पिछले युद्ध में तमाम दावों के बीच अमेरिका ने अपने युद्धपोत होर्मुज से दूर ही रखे, क्योंकि उसे पता था कि ईरान की सामान्य मिसाइल भी उसके जहाज को डुबोने की क्षमता रखती है।

नजर भारत के रुख पर भी बनी हुई है। हालांकि, हमारी सरकार का यह स्पष्ट मानना है कि हमारी प्राथमिकताएं अलग हैं और इस जंग में हम किसी का पक्ष नहीं लेना चाहते। हालांकि, ऊर्जा सुरक्षा और ऊर्जा स्थिरता के लिए, संयुक्त अरब अमीरात व खाड़ी के अन्य देशों के साथ अच्छे संबंधों को देखते हुए, यहां से गुजरने वाली कनेक्टिविटी परियोजनाओं के हित में और इस क्षेत्र में मौजूद हमारे निवेश व ऊर्जा साझेदारों की अहमियत को समझते हुए हमें ऐसी नीति बनानी ही होगी, जिससे हमारे हितों को कोई नुकसान न पहुंचे। हमारे संबंध अमेरिका के साथ भी अच्छे हैं और ईरान के साथ भी, इसलिए किसी भी पक्ष को ऐसा नहीं लगना चाहिए कि हमारा झुकाव दूसरे पक्ष की ओर है। लिहाजा नीतियों में संतुलन बहुत आवश्यक है।

Date: 10-07-26

फॉर्मूला आधारित पढ़ाई से शिक्षा में बढ़ीं समस्याएं

अनुराग बेहर, (सीईओ, अजीम प्रेमजी फाउंडेशन)

पिछले हफ्ते एक स्कूल में गया था, जहां एक शिक्षक करीब 20 छात्रों से 'भिन्न' का सवाल हल करा रहे थे। बच्चों ने कागज को आधे और चौथाई हिस्सों में मोड़ रखा था। वहां हलचल, रंग और चहल-पहल थी। कक्षा समाप्त होने पर जब कुछ बच्चों से पूछा कि भिन्न क्या होता है, तो वे अवाक रह गए। उन्होंने अपने हाथों में मुड़े हुए कागज को देखा और फिर मुझे देखा। उनके पास कहने के लिए कुछ नहीं था। शिक्षक ने कक्षा में अभ्यास तो करा दिया, लेकिन कोई बच्चा सीख नहीं पाया था। इसमें शिक्षक की कोई गलती नहीं थी। वह पूरी ईमानदारी से वही करा रहे थे, जिसे अच्छी पढ़ाई मानी जाती है। गलती एक ऐसी बौद्धिक चूक में थी, जिसने दो दशकों से स्कूली शिक्षा का बेड़ा गर्क कर रखा है। हम अभी भी इसके नतीजे भुगत रहे हैं।

यह गलती 'रचनावाद' (कंस्ट्रक्टिविज्म) से जुड़ी है। इंसान को सीखने के लिए आंशिक रूप से 'रचनावाद' महत्वपूर्ण है। यह कहता है कि किसी निष्क्रिय दिमाग में ज्ञान डाला नहीं जा सकता। इसके लिए सीखने वाला स्वयं सक्रिय रूप से समझ बनाता है और नई चीजों को उन चीजों से जोड़ता है, जिनको वह पहले से जानता है। साल 2005 के 'नेशनल करिकुलम फ्रेमवर्क', यानी राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा में इस सिद्धांत को शिक्षा की सोच के केंद्र में रखा गया और रटंत विद्या, पाठ्य-पुस्तकों के दबदबे और बच्चे को खाली बर्तन समझने जैसी मूल समस्याओं को हल करने के लिए कुछ नहीं किया गया।

सीखना निर्माण की एक सक्रिय व सतत प्रक्रिया है, लेकिन इस विचार को हमने छोड़ दिया और इसकी जगह 'पढ़ाने में निर्देश कम से कम होने चाहिए' को अपना लिया। इसमें 'शिक्षक को समझाने की जहमत नहीं उठानी है, निर्देश देना तानाशाही है, बच्चों को गतिविधि के जरिये खुद विचार खोजने चाहिए, अभ्यास व याद करना समझ के दुश्मन हैं' जैसी बातें होने लगीं। रचनावाद सोचने-समझने का एक फॉर्मूला न रहकर, पालन करने वाला एक सिद्धांत बन गया। प्रशिक्षण कार्यक्रम में इन्हें नारों की तरह सिखाया गया, जैसे 'गतिविधियां अच्छी हैं, लेकिन समझाना बुरा है; खोज अच्छी है, बताना बुरा है; समझना अच्छा है, याद रखना बुरा है।' पाठ्य-पुस्तक में अध्यायों की शुरुआत ऐसी गतिविधियों से की जाती हैं, जिनको कराने के लिए शिक्षक के पास न तो समय होता है और न तैयारी। कक्षा की निगरानी करते वक्त यह देखा जाता है कि कितनी गतिविधियां हुईं, न कि यह कि किसने क्या सीखा?

इंसानी मामलों में यह एक पुराना पैटर्न है, जो सिर्फ शिक्षा तक सीमित नहीं है। अल्फ्रेड नॉर्थ व्हाइटहेड ने इसे 'फैलेसी ऑफ मिसप्लेस्ड कंक्रिटनेस' कहा था, यानी किसी अमूर्त विचार को ही वास्तविकता मान लेना। प्रत्येक अमूर्त अवधारणा कुछ चीजों को छोड़कर किसी न किसी मुख्य बात को उजागर करती है। रचनावाद कक्षा, बच्चों की संपूर्णता, विषय, शिक्षक, संसाधन आदि को छोड़ देता है। जब इस अमूर्त विचार को ही सर्वोपरि मान लिया जाता है, तो बाकी चीजों के साथ ऐसा व्यवहार किया जाता है, जैसे वे हैं ही नहीं। इस गलती में ही क्रूरता निहित है। इसके असर हरेक पर समान रूप से नहीं होते हैं। इसमें शिक्षित माता-पिता के बच्चे घर में मिलने वाली शिक्षा के कारण शिक्षा संबंधी कमियों से बच जाते हैं, लेकिन ऐसे परिवारों के छात्रों को कोई सहारा नहीं मिलता, जिनके परिवार की पहली पीढ़ी शिक्षा के क्षेत्र में जा रही होती है।

बच्चे की गरिमा और ज्ञान को जीवन से जोड़ना आज भी महत्वपूर्ण विचार हैं। अच्छा शिक्षण कर्म किसी फॉर्मूले का पिछलग्गू नहीं हो सकता। यह पूरी तरह से विवेक का मामला है। शिक्षक के लिए यह जानना जरूरी है कि कब समझाना है और कब बच्चों को संघर्ष करने देना है, कब कोई गतिविधि समझ को गहरा करती है या केवल समय बिताने का साधन भर है और किन चीजों को अभ्यास के माध्यम से आत्मसात कराना है, ताकि मन सोचने के लिए स्वतंत्र रहे। कुल मिलाकर, सबसे अहम सबक यह है कि फॉर्मूला आधारित शिक्षा विवेक का शत्रु है। इसलिए, मूल बात यह देखना है कि बच्चा सीखता है या नहीं?